IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

नेहरू-लियाक़त समझौता(1950)- एक अध्ययन

अविनाश कुमार, शोधार्थी & सहायक प्राध्यापक,इतिहास विभाग, पटना कॉलेज (6202393206)

प्रो(डॉ) दिनेश प्रसाद कमल, शोध-निर्देशक & अध्यक्ष-इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सार-संक्षेप

भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों को जिस मुद्दे ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, उनमें अल्पसंख्यकों का मुद्दा खास जगह रखता है। पाकिस्तान का तो जन्म ही अल्पसंख्यक मुसलमानों के अधिकारों और उनकी संस्कृति की रक्षा के नाम पर हुआ था। दूसरी तरफ भारत ने सदैव इस बात की हामी भरी है कि भारत अल्पसंख्यकों के अधिकारों को वही महत्त्व देता रहा है और रहेगा जितना महत्त्व वह बहुसंख्यकों के अधिकारों को देता है। लेकिन इस मामले में पाकिस्तान की घोषणा और उसकी वर्तमान स्थिति में आसमान-जमीन का फ़र्क देखा जा सकता है। यह फ़र्क उसके छोटे-से-छोटे दर्जे और बड़े-से-बड़े दर्जे के नेतृत्व में देखने को मिलता है। वहीं दूसरी ओर भारत का रिकॉर्ड कुछ छिट-पुट घटनाओं को छोड़कर दोनों समुदायों के साथ बराबरी का रहा है। लेकिन इतिहास का एक ऐसा भी दौर था जब इन दोनों देशों के बीच अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए दोनों के प्रधानमंत्रियों के बीच एक ऐतिहासिक समझौता हुआ था जिसमें दोनों ने घोषणा और प्रतिज्ञा की थी कि वे अपने यहाँ के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की समान रूप से रक्षा करेंगे। यह समझौता 1950 में हुआ था जब भारतीय गणराज्य का संविधान लागू हुआ था और भारत ने लोकतन्त्र की राह में अपनी यात्रा शुरू की थी। आज तक यह समझौता दोनों देशों के बीच अल्पसंख्यकों के अधिकारों के मुद्दे पर केंद्रीय आधार बना रहा है। चाहे वह कश्मीर का मुद्दा रहा हो या दोनों देशों के बीच 1948 से 2000 तक होनेवाले तमाम युद्ध- इस समझौते के विभिन्न प्रावधानों ने दोनों के आपसी सम्बन्धों में केंद्रीय भूमिका निभाई है। प्रस्तुत शोध में इसी समझौते की पृष्ठभूमि, इसके विविध प्रावधानों और इसके प्रभावों का अध्ययन प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

कुंजी शब्द: *नेहरू- लियाक़त समझौता, अल्पसंख्यक, हिन्दू, मुसलमान, अल्पसंख्यक, गणराज्य, कश्मीर, भारत, पाकिस्तान*

विषय-प्रवेश

23 मार्च 1940 को लाहौर में आयोजित अपने सालाना जलसे में पाकिस्तान प्रस्ताव पेश करने के मात्र 7 वर्षों बाद ही मुस्लिम लीग एक अलग मुस्लिम होमलैंड बनाने में सफल हो गया। इस पूरे आंदोलन में केंद्रीय भूमिका निभाने वाले जिन्ना की इस कामयाबी पर कई इतिहासकारों ने क़सीदे पढे हैं जिनमें पश्चिमी इतिहासकारों के साथ-साथ भारतीय इतिहासकारों की एक लंबी फेहरिस्त है। पर स्टेनली वोलपर्ट का आकलन सबसे हटकर रहा जिसमें उन्होंने कहा था, *"बहुत कम लोगों ने ही इतिहास की धारा को नया रूख दिया है। दुनिया के मानचित्र में बदलाव तो और कम लोगों ने किया है। राष्ट्र-राज्यों के निर्माण का श्रेय तो बहुत ही कम लोगों को दिया जा सकता है। लेकिन मोहम्मद अली जिन्ना विरले थे जिन्होंने इन तीनों में कामयाबी हासिल की थी।"* लेकिन पाकिस्तान बनाने की कामयाबी पर वे जश्न भी नहीं मना पाये थे कि उन्हें अपनी इस कामयाबी की खामियों का अहसास होने लगा था। ऐसा नहीं थी कि उन्हें पहले अपने राजनीतिक सिद्धांतों की खामियों का आभास नहीं था,[1] पर वे अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता में इस हद तक गहरे जा चुके थे कि सार्वजनिक तौर पर उन्हें स्वीकार करना उनके लिए बेहद घातक साबित होता।

पाकिस्तान हासिल करने के बाद जिन्ना ने 11 अगस्त 1947 को पाकिस्तान की संविधान-सभा के पहले सम्बोधन में उन्होंने अपने पुराने राजनीतिक सिद्धांतों की ओर लौटने के आसार दिखाये, पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। अपने भाषण में जिन्ना ने कहा था कि पाकिस्तान बनने के बाद हिन्दू और मुसलमान का मसला सदा के लिए खत्म हो चुका था और अब सब को एक देश का नागरिक बनकर रहना चाहिए। लेकिन जिन्ना ने जिस राजनीतिक पथ का अनुसरण किया था, उसमें पीछे हटने की गुंजाइश नहीं थी। क्योंकि जिन्ना ने जिस तरह से अपने राजनीति की ओर लौटने के संकेत दिये, वैसे ही उनके साथियों ने उन्हें एक-एक करके अलग-थलग करने की कोशिशें शुरू कर दी। 11 अगस्त के अपने ऐतिहासिक भाषण में उन्होंने संविधान-सभा में उपस्थित विदेशी प्रतिनिधियों और गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक नेताओं को सामने पाकर जो भाषण दिया, वह उनकी दक्षिण-एशिया के अतातुर्क-सरीखा नेता बनने की ख़्वाहिश थी, पर उनके साथी राजनेता उनके इस राजनीतिक रूपान्तरण से खिन्न हो गए और उनके ऐतिहासिक भाषण को दूसरे दिन के अखबारों से लगभग गायब करवा दिया।

कश्मीर पर उनके रूख ने भी कई लीगी नेताओं को खफ़ा कर दिया था और सबसे निर्णायक समय में जिन्ना ने अपने आपको निहायत अकेला पाया। इस अकेलेपन और उनकी ब्रोनकाइटिस की पुरानी बीमारी के उभर आने से वे बाहरी और भीतरी-दोनों जगहों से कमजोर पड़ते चले गए, जिसका अंत 11 सितंबर 1948 को उनकी मौत के साथ हुआ। उनके निधन के बाद उनकी विरासत तो औपचारिक रूप से लियाक़त अली खान ने संभाल ली, पर वे जिन्ना की राजनीति के प्रति पूर्णत: समर्पित नहीं थे। लियाक़त भारत से आए मुसलमानों के हितों के बहुत बड़े पैरोकार बने रहे और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए इन मोहाजिरों के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था भी कर दी थी, पर वे भारत जाने से इंकार करते हुए पाकिस्तान में ही रहने को प्रतिबद्ध हिंदुओं के अधिकारों की सुरक्षा के प्रति बेहद लापरवाह ही बने रहे। सर्वोच्च पाकिस्तानी नेतृत्व की इस हिन्दू-विरोधी सोच का आलम यह था कि हिंदुओं की सर्वाधिक जनसंख्या वाले सिंध के प्रधानमंत्री खूड़ो की दंगा-विरोधी नीतियों पर कटाक्ष करते हुए लियाक़त अली ने कहा था, "आप किस तरह के मुसलमान हो? वहाँ भारत में मुसलमानों का कत्लेआम हो रहा है और आप यहाँ सिंध में हिंदुओं को बचाने में लगे हो?"[2]

शीर्ष नेतृत्व में व्याप्त इस अल्पसंख्यक-विरोधी मानसिकता ने नवोदित पाकिस्तान की सरकारी मशीनरी को अल्पसंख्यक-विरोधी बना दिया। इसका खामियाजा वहाँ के अन्य अल्पसंख्यकों की अपेक्षा हिंदुओं को ज्यादा भुगतना पड़ा क्योंकि भारत से मुसलमानों की हत्या की जो खबरें आ रही थीं या 1948 के बाद भी झुंड-के-झुंड पाकिस्तान गए मुसलमानों ने जो आपबीती सुनाई, उनमें ज़्यादातर हिन्दू ही खलनायक हुआ करते थे। यह सिर्फ पश्चिमी पाकिस्तान की कहानी न होकर पूर्वी पाकिस्तान की भी थी। पाकिस्तान के दोनों हिस्सों में अल्पसंख्यक-विरोधी भावना अपने चरम पर थी। [3]

अब सवाल यह उठता है कि जिस सांप्रदायिक दंगे को मुस्लिम लीग ने राजनीतिक हथियार के रूप में ईजाद किया था और उसका बेहतरीन इस्तेमाल किया था, वह लीग और पाकिस्तान क्यों अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए चिंतित होगा? इस सवाल का जवाब राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक न होकर आर्थिक था, जिसने अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए पाकिस्तान को मजबूर किया। पाकिस्तान बहुत हद तक 1950 तक अपने को अल्पसंख्यकों से मुक्त करने में कामयाब हो चुका था।[4] पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत और पंजाब तकरीबन हिंदुओं से खाली हो चुका था और बलूचिस्तान एवं सिंध के शहरी इलाकों से भी हिंदुओं को खदेड़ा जा चुका था। जो अल्पसंख्यक बचे थे, राष्ट्रीय जीवन के सभी पैमाने पर हाशिये पर धकेले जा चुके थे और उनकी राजनीतिक हैसियत खत्म हो चुकी थी। वे किसी तरह की चुनौती पेश करने के काबिल नहीं रह गए थे। ऐसे में पाकिस्तान के राजनेताओं को भारत के साथ अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए क्यों मजबूर होना पड़ा?

समझौते की पृष्ठभूमि

1947 में पाकिस्तान बनाने में कामयाब होने के बाद वहाँ के राजनेताओं ने देश के आर्थिक ढाँचे को ठीक-ठाक करने की कवायद शुरू कर दी। पूर्वी पाकिस्तान पटसन और जूट जैसे वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन में अव्वल था।[5] शुरुआती दौर में पाकिस्तान ने अपने लिए सर्वाधिक विदेशी मुद्रा इसी पटसन और जूट को बेचकर हासिल किया था, पर औद्योगिक ढाँचे के विकास के लिए और ज्यादा संसाधनों की जरूरत थी। भारत से मुसलमानों के लगातार आते रहने से पाकिस्तान का आर्थिक बोझ उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा था। दंगों के सिलसिले जारी रहने के बावजूद एक दौर ऐसा भी आया जब पाकिस्तान ने

अल्पसंख्यक हिंदुओं को भारत आने से रोका और उनके द्वारा भारत ले जाने वाले रूपयों और अन्य कीमती सामानों पर रोक लगा दी गई थी। कश्मीर में सैन्य अभियान चलाने से भी पाकिस्तान पर आर्थिक बोझ लगातार बढ़ता जा रहा था। इन सभी परिस्थितियों ने पाकिस्तान के राजनेताओं का वास्तविकता से परिचय करवाया और उन्हें मजबूर किया कि न चाहते हुए भी वे भारत के साथ ऐसे समझौते करें जिससे मुसलमानों के पाकिस्तान आने के सिलसिले को रोका जा सके। नहीं तो इन अवांछित शरणार्थियों का बोझ एक दिन पाकिस्तान की कमर तोड़ देगा। पाकिस्तान के हिस्से में आई जनसंख्या उसे मिले भौगोलिक क्षेत्रफल के मुक़ाबले कम थी। इस तरह से पाकिस्तान क्षेत्रफल के लिहाज से भारत से बेहतर स्थिति में था। पाकिस्तान को मिला यह लाभ उस समय ख़त्म हो जाता, अगर भारत से आए मुसलमानों का पाकिस्तान आते रहना निर्बाध चलता रहता।

भारत में अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए तत्परता का कारण वह नहीं था जो पाकिस्तान के लिए था। सबसे पहले राष्ट्रीय आंदोलन के समय प्रादुर्भूत मूल्य भारतीय राज व्यवस्था को उस तरह की अल्पसंख्यक-विरोधी राजनीति अपनाने से रोक रहे थे, जिस तरह की अल्पसंख्यक-विरोधी नीति पाकिस्तान अपना रहा था। दूसरा भारतीय राज-व्यवस्था में पहली पीढ़ी के जितने भी राजनेता शामिल थे, वे ज़्यादातर गाँधीवादी थी और कई मुस्लिम सहयोगियों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर अंग्रेजों के जुल्म सहे थे। इसी के साथ सर्वसम्मति से तैयार भारतीय संविधान के प्रावधानों ने भी सभी भारतीयों को समानता के धरातल पर ला खड़ा किया था। लेकिन इन सब तथ्यों के साथ कश्मीर के मसले को संयुक्त राष्ट्र संघ में चले जाने के कारण भारत पर लगातार दबाव पड़ रहा था कि मुस्लिम-बहुल कश्मीर के भारत में विलय को वह अपने को अल्पसंख्यक-विरोधी नीति से दूर रहकर उचित ठहराये।

दोनों देशों की एकसमान जरूरत और थी जिसने उन्हें अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए मजबूर किया था। पंजाब और सिंध के शहरी इलाकों में व्यवसाय और शिक्षा पर गैर-मुस्लिमों का प्रभुत्व था। इसी प्रकार अमृतसर, लखनऊ, कानपुर और दिल्ली में शिक्षा पर तो नहीं परंतु व्यवसाय पर मुसलमानों का प्रभुत्व था। बंबई में मुस्लिम प्रभावी उपस्थिति रखते थे। यह शहर जिन्ना और भुट्टो परिवार का गढ़ रहा था और दोनों राजनेताओं के पासपोर्ट पर इस शहर का ज़िक्र था। विभाजन के दंगा-प्रभावित परिस्थितियों में इन नामचीन लोगों के साथ असंख्य हिन्दू और मुसलमान अपनी स्थायी सम्पत्तियों का दावा निबटाये बिना भागने को विवश हुए थे। इन दावों का निबटान उचित समझौता किए बिना संभव नहीं था।

विभाजनकालीन दंगों ने असंख्य परिवारों को बर्बाद और विच्छिन्न कर दिया था। विभाजन के बाद के एक-दो वर्ष तो सिर्फ किसी तरह जान बचाकर भागने में बीत गए, पर इसके बाद का समय बिछड़े परिवारों की रात की नींद और दिन का चैन खत्म कर चुका था। इसे समकालीन पंजाबी, बंगाली, सिन्धी और उर्दू साहित्य में बखूबी देखा जा सकता है। यद्यपि समाज की समावेश कर लेने की क्षमता ने कई महिलाओं को अपने में समाविष्ट कर लिया था, पर अपनों से मिलने की चाह बनी हुई थी। महिलाओं को अपना लेनेवाले नए परिवारों ने भी अपराध-बोध से निकलने के लिए पुराने परिवारों के साथ मिलने की चाह जतानी शुरू कर दी थी। लेकिन सरकार के स्तर पर इस संबंध में कोई औपचारिक समझौता किए बिना इस समस्या का हल संभव नहीं था। एक सजग और संवेदनशील सरकार के लिए इस मसले को हल करना भी जरूरी था।

कश्मीर मसले को लेकर दोनों देशों के बीच शुरू में ही खटास पैदा हो गया था। दोनों देशों के बीच इसी मुद्दे पर लड़ाई भी हुई थी। इस मुद्दे के संयुक्त राष्ट्र संघ में जाने के बाद इस पर जब-जब दोनों देशों के बीच बहस हुई, तब-तब अल्पसंख्यकों के प्रति सरकार और वहाँ के लोगों का रवैया संदिग्ध हो जाया करता था। संदेह का इस तरह बने रहना राष्ट्र-निर्माण में बाधक बन रहा था। पाकिस्तान का निर्माण ही बहुसंख्यक से अल्पसंख्यकों की रक्षा के नाम पर हुआ था, ऐसे में उसके लिए भी जरूरी हो गया था कि अल्पसंख्यकों की तरफ से उनके अधिकारों की रक्षा के लिए उठ रही माँग पर एक सार्थक कदम उठाया जाय। बहुत जल्द ही पाकिस्तान में ऐसी हवा चली जिसमें मुसलमानों के बीच के ही कई फ़िरकों को गैर-मुस्लिम घोषित करने की माँग उठाने लगी। अभी तक जहां गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों का मुद्दा था, यह अल्पसंख्यकों के मुद्दे से जुड़ा नया आयाम था। समय के साथ अल्पसंख्यक मुद्दा सुलझने की जगह और ज्यादा जटिल होता जा रहा था।

भारतीय संविधान-सभा ने ऐसे तो सभी प्रमुख मुद्दों पर स्पष्ट प्रावधान कर दिये थे, पर नागरिकता जैसे संवेदनशील मुद्दे को उसने यूँ ही छोड़ दिया था और इसके बारे में पूर्ण प्रावधान बनाने की ज़िम्मेदारी उसने आनेवाली पूर्णत: निर्वाचित संसद के लिए छोड़ दी थी। संविधान-सभा ने नागरिकता के संबंध में सिर्फ यही प्रावधान कर दिया था कि एक निश्चित तिथि

तक भारत में रहनेवाले सभी लोग भारतीय नागरिक कहे जाएँगे। नागरिकता हासिल करने, नागरिकता खोने और नागरिकता के विशिष्ट प्रावधान करने के संबंध में सम्पूर्ण कानून 1955 में जाकर बने थे। ऐसा करने के लिए संविधान-सभा को तत्कालीन परिस्थितियों ने मजबूर किया था। चूँकि उस समय भारत की पश्चिमी और पूर्वी[6] सीमा दोनों तरफ से आने वाले अल्पसंख्यकों की बाढ़ का सामना कर रही थी, ऐसे में नागरिकता-क़ानूनों को कठोर बना देने से लोगों की मुश्किलें बढ़ जाने की संभावना थी। नागरिकता के मुकम्मल प्रावधान के लिए यह पूर्व शर्त थी कि शरणार्थियों के आवागमन को रोका जाय। शरणार्थियों के रेले को रोका जा सकता था, यदि दोनों देशों की सरकारों अल्पसंख्यकों को लेकर एक स्पष्ट समझौता करतीं और सीमा के दोनों तरफ अल्पसंख्यकों में अपने देशों में ही बने रहने का भरोसा पैदा करतीं।

नेहरू-लियाक़त या दिल्ली समझौता (1950)[7]

यह समझौता दोनों देशों की तत्कालीन जरूरतों के चलते हुआ था। अप्रैल 1950 की शुरुआत में लियाक़त अली के नेतृत्व में पाकिस्तानी प्रतिनिधिमंडल नई दिल्ली आया। इस प्रतिनिधिमंडल के सभी सदस्य वही लोग थे जो ब्रिटिश भारत में सरकार के अलग-अलग स्तरों पर कभी एकसाथ मिलकर काम कर चुके थे। अन्तरिम मंत्रिमंडल में लियाक़त अली वित्त मंत्री थे तो नेहरू प्रधानमंत्री। पहले व्यक्त की गई संभावनाओं से इतर समझौते की शर्तों पर सहमति बनाने में लंबा समय लगा और करीब एक सप्ताह बाद 8 अप्रैल को समझौता निम्नलिखित प्रावधानों के साथ तय पाया गया:

A. दोनों देशों के शरणार्थी अपनी-अपनी संपत्ति के विवादों के निबटान के लिए भारत और पाकिस्तान स्थित अपने पुश्तैनी जगहों पर जा सकते हैं। जब तक विवाद का निबटान नहीं हो जाता है, उस समय तक उन देशों में ठहरे रहने तक उनकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उस देश की सरकार की होगी।
B. लूटी गई संपत्ति और अगवा की गई महिलाओं की शादी को अमान्य घोषित किया जाएगा और उन्हें वापस उनके परिवार को हर हाल में सौंप दिया जाएगा।
C. हर तरह के ज़बरन धर्मांतरण को अमान्य घोषित किया जाएगा।
D. दोनों देश अपने-अपने क्षेत्र के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा और स्थिति की जांच के लिए एक अल्पसंख्यक आयोग का गठन करेंगे जहां अल्पसंख्यक अपने सभी तरह के अधिकारों की सुरक्षा से जुड़ी शिकायतें दर्ज करवा सकेंगे।

इन प्रावधानों का मुख्य उद्देश्य दोनों देशों के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की उसी तरह सुरक्षा सुनिश्चित करना था जैसे बहुसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा की जाती थी। समझौते के अंत में यह आशा व्यक्त की गई कि संबन्धित दोनों सरकारें ऐसे कदम उठायेंगी जिससे उनके अल्पसंख्यकों में यह भरोसा पैदा हो सके कि जिस देश में वे रूके हैं, वहाँ उनके अधिकार पूर्णत: सुरक्षित हैं और रहेंगे। इस भरोसे की बहाली के लिए भी कुछ ठोस क़दम उठाए जाने थे। इन क़दमों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण थे:

1. *धर्म के आधार पर किसी अल्पसंख्यक को उस देश के किसी राजनीतिक और सरकारी पद एवं अवसर से वंचित नहीं किया जाएगा।*
2. *धर्म के आधार पर उन्हें नागरिकों को मिलनेवाली किसी सुविधा से वंचित नहीं किया जाएगा।*
3. *समझौते की शर्तों के पूर्ण पालन को सुनिश्चित करने के लिए दोनों देशों के बीच एक आयोग बनेगा जिसमें दोनों तरफ के अधिकार-सम्पन्न मंत्री सदस्य होंगे जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों के हनन से जुड़ी हर शिकायत पर समुचित कार्रवाई करेंगी और उठाए गए क़दमों को आपस में साझा करेंगे।*
4. 1950 की अंतिम तिथि तक जो शरणार्थी वापस आना चाहते हैं, दूसरे देश की सरकार उन्हें नहीं रोक सकती है।

इस समझौते पर हस्ताक्षर करनेवाले नेहरू के कई मंत्रिमंडलीय सहयोगियों ने इस समझौते की शर्तों का जबर्दस्त विरोध किया और विरोध का स्वर इस हद तक ऊँचा था कि श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने सरकार से इस्तीफा तक दे दिया था। नेहरू के दूसरे सहयोगी जो इससे खुश नहीं थे, वे थे सरदार वल्लभ भाई पटेल। लेकिन वे प्रशासनिक तंत्र द्वारा सांप्रदायिक और अल्पसंख्यकों की समस्या के समाधान में ज्यादा विश्वास करते थे। इसलिए उनका विरोध ज्यादा तीखा नहीं था।

पाकिस्तान द्वारा समझौते के प्रावधानों की अवहेलना

कई लेखकों ने इन चिर-दुश्मन देशों के बीच इस समझौते को आपसी सम्बन्धों को पटरी पर लाने और मैत्रीपूर्ण बनाने की कोशिश के रूप में लिया है,[8] लेकिन इस समझौते की स्याही सूखी भी नहीं थी कि पाकिस्तान से इस समझौते के उल्लंघन की खबरें आनी शुरू हो गईं। ऐसा नहीं है कि ये ख़बरें भारत से नहीं आ रही थीं, जिस व्यापक पैमाने पर हिंसा की ख़बरें सीमा के दोनों ओर से आ रही थीं, वैसी घटनाएँ भारत में नहीं घट रही थीं। इसका सबसे बड़ा कारण शीर्ष भारतीय नेतृत्व द्वारा इस समझौते के मर्म को दिल से स्वीकार कर लेना था। 1950 के अंत और 1951 की शुरुआत से बांग्लादेश[9] से दिल दहला देनेवाली ख़बरें आने लगीं और शरणार्थियों का काफ़िला अनवरत आने लगा। जातीय सफाये और उत्पीड़न का पैमाना इस हद तक झकझोरनेवाला था कि दलित-मुस्लिम गँठजोड़ के सबसे बड़े पैरोकार और पाकिस्तान में हिन्दू दलितों को कोई दिक्कत नहीं होगी क्योंकि अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के नाम पर बने पाकिस्तान में मुसलमान अल्पसंख्यक हिन्दू दलितों के अधिकार पूर्णतः सुरक्षित रखेंगे- की सोच रखने वाले जोगेन्द्रनाथ मण्डल को चेहरा और नाम छुपाकर पाकिस्तान से भागना पड़ा और भारत पहुँचने के कई सप्ताह बाद उन्होंने लियाक़त अली को अपना इस्तीफा भेजा। अपने इस्तीफे[10] में उन्होंने बांग्लादेश में जिस पैमाने पर दलित हिंदुओं के जातीय सफाये का वर्णन किया था, वह किसी भी सभ्य समाज द्वारा स्वीकार्य नहीं हो सकता था।

समझौते पर भारतीय नेताओं की प्रतिक्रियाएँ

पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री विधान चन्द्र रॉय ने 20 मार्च 1951 को प्रेस कॉन्फ्रेंस करके केंद्रीय नेतृत्व को शरणार्थियों की इस बढ़ती संख्या से अवगत करवाया, जिस पर समझौते की शर्तों के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता जताते हुए प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा कि शरणार्थियों को सिर्फ राहत और थोड़े समय के लिए शरण दी जा सकती है, उनका पुनर्वास हर्गिज नहीं करवाया जा सकता है। पर इन शरणार्थियों को पलायन के लिए क्यों मजबूर होना पड़ा, इस पर कांग्रेस-नीत केंद्र सरकार आँखें बंद किए हुई रही। इस खामोशी ने इससे भी बड़े पैमाने पर बांग्लादेश[11] में अल्पसंख्यकों के जातीय संहार को प्रोत्साहित किया। अक्तूबर 1951 में रावलपिंडी के सैनिक परेड में लियाकत अली की जघन्य हत्या के बाद पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का अंतिम चिराग बुझ गया, क्योंकि इसके बाद पाकिस्तान की सत्ता जिन लोगों के हाथों में आई, वे जिन्ना और लियाक़त के राजनीतिक क़द की बराबरी नहीं कर सकते थे। इधर भारत में 1955 में जब संसद ने नागरिकता पर सम्पूर्ण कानून बना दिया तो पाकिस्तान के दोनों हिस्सों में बचे रह गए गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों के लिए भारतीय नागरिकता पाना आसान नहीं रह गया। 1956 में पाकिस्तानी संविधान लागू हुआ जिसके तहत पाकिस्तान को इस्लामिक गणराज्य घोषित किया गया।[12] इस्लामिक गणराज्य घोषित होते ही वहाँ के गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक अचानक दोयम दर्जे के नागरिक बन गए क्योंकि कई राजनीतिक और सैनिक पदों के लिए उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया गया। उनके पर्सनल लॉ अब राज्य द्वारा निर्देशित होने लगे और संवैधानिक प्रावधान कुरान और शरीयत के मद्देनजर बनाए जाने लगे। यह संविधान ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका और राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होने पर 1958 में पाकिस्तान की सत्ता सेना के हाथों में आ गई और सेना के सत्तासीन होते ही भारत के साथ की गई तमाम संधियों के प्रति पाकिस्तान की प्रतिबद्धता समाप्त-सी हो गई क्योंकि पाकिस्तानी सेना का वजूद ही भारत से नफरत और असुरक्षा पर आधारित था।

भारतीय सरकार द्वारा समझौते का एकतरफा पालन और पाकिस्तानी अल्पसंख्यकों के प्रति अन्यमनस्कता

यह इतिहास की अजीब विडंबनाओं में से एक है कि लीग ने अपनी नीतियों के प्रति समर्पित मुसलमानों के लिए पाकिस्तान प्राप्त कर लिया था, पर कांग्रेस की नीतियों के प्रति समर्पित तमाम गैर-मुस्लिम जो सीमा की दूसरी ओर छूट गए थे, वे गांधीवादी और अहिंसावादी होकर भी अपनी किस्मत के भरोसे छोड़ दिये गए थे। इनकी सुध लेने वाला कोई नहीं था। कांग्रेस के पास लीगी नीतियों के प्रति समर्पित उन मुसलमानों को बचाने के लिए भरपूर समय था जो मत-निर्णय में लीग का साथ देने के बाद भी भारत में ही रहते रहे। गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों को राष्ट्रीय आंदोलन के समय उपजे और मजबूत हुए मूल्यों की कीमत चुकाने के लिए छोड़ दिया गया था।

1965 में कश्मीर मुद्दे को लेकर दोनों देशों के बीच फिर से युद्ध हुआ और इसकी कीमत भी सीमा के दोनों ओर के अल्पसंख्यकों को चुकानी पड़ी। भारत की इस लड़ाई में जीत हुई, लेकिन इस जीत का नेहरू-लियाक़त समझौते के प्रति

पाकिस्तान की प्रतिबद्धता को सुनिश्चित करने के लिए नहीं किया गया। इस युद्ध की समाप्ति ताशकंद समझौते के साथ हुई, लेकिन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के आकस्मिक निधन से सारा परिदृश्य ही बदल गया। इंदिरा गाँधी नई प्रधानमंत्री बनी। यद्यपि शुरुआत में उन्हें गुड़िया मानने की भूल की गई, पर जल्द ही वे सशक्त नेत्री के रूप में सामने आयीं। पर उपर्युक्त समझौते के प्रति वे भी पाकिस्तान की प्रतिबद्धता सुनिश्चित नहीं करवा सकीं।

समझौते के पालन को लेकर संसद में तीखी बहस

1966 में ही स्वतन्त्रता दिवस के अगले दिन विदिशा,मध्यप्रदेश से जनसंघ के राज्यसभा सांसद निरंजन वर्मा ने विदेशमंत्री स्वर्ण सिंह से 3 सवाल पूछे।[13] निरंजन वर्मा के तीनों सवालों और उनके प्रत्युत्तर में स्वर्ण सिंह के कथन ने स्पष्ट कर दिया कि अल्पसंख्यकों को लेकर किया गया 1950 का ऐतिहासिक समझौता अपने जन्म के साथ ही अपनी मौत मर चुका था। पहला सवाल यह था कि समझौते की वर्तमान स्थिति क्या है? स्वर्ण सिंह का उत्तर था कि यह समझौता सक्रिय है और दोनों देश इसके प्रति अभी भी उत्तरदायी हैं। दूसरा सवाल था कि क्या दोनों देश इसके प्रावधानों का पालन कर रहे हैं? इस पर सीधा जवाब था कि जहां तक भारत का पक्ष है, भारत पूरी तरह से इस समझौते के प्रावधानों के प्रति समर्पित है और अल्पसंख्यकों के अधिकारों के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध है। लेकिन निरंजन वर्मा के तीसरे सवाल का उत्तर निराशाजनक था। तीसरा सवाल यह था कि पाकिस्तान के द्वारा कब से इस समझौते का पालन बंद कर दिया गया था। इसका जवाब था कि समझौता होने के बाद से ही पाकिस्तान की प्रतिबद्धता संदिग्ध रही थी।

समझौते से आगे अल्पसंख्यकों को लेकर पाकिस्तान का रूख

इस स्तर पर दिल्ली समझौते पर एक पैनी निगाह डालने की जरूरत पड़ती है। चूँकि कोई भी समझौता दो या दो से ज्यादा पक्षों के बीच में होता है और समझौते में शामिल हर पक्ष के लिए इसके प्रावधान बाध्यकारी होते हैं, ऐसे में पाकिस्तान द्वारा प्रतिबद्धता खत्म करते ही भारत पर प्रतिबद्धता बनाए रखने का दबाव खत्म हो जाना चाहिए था। लेकिन भारत ने प्रतिबद्धता बनाए रखी। यह गलत नहीं था, लेकिन भारत की भारी भूल यह रही कि उसने पाकिस्तान पर प्रतिबद्धता का ज़ोर नहीं डाला जिससे उसे अल्पसंख्यकों के अधिकारों के हनन का भरपूर अवसर मिल गया। आनेवाले समय में बांग्लादेश[14] मुक्ति संग्राम शुरू होते ही गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न बढ़ गया। अपेक्षाकृत उदारपंथी और समाजवादी रूझान वाले भुट्टो के समय भी इस स्थिति में कोई सकारात्मक बदलाव की जगह अल्पसंख्यकों की जमात में नए लोगों को शामिल कर लिया गया। संविधान में संशोधन करके अहमदिया[15] लोगों को गैर-मुस्लिम करार दिया गया और 1978 में जिया-उल-हक़ द्वारा पाकिस्तान के इस्लामीकरण की नीति[16] अपनाए जाने के बाद अल्पसंख्यकों के जीवन की सारी उम्मीदें खत्म हो गईं।

निष्कर्ष

अंततः: शोध के निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि नेहरू-लियाक़त समझौता भारत और पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के मामले में मील का पत्थर था। विभाजन की दर्दनाक त्रासदी से पैदा हुई अल्पसंख्यक समस्या के समाधान के लिए सीमा के दोनों ओर की सरकारों ने सदिच्छा दिखाई थी। इसके लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ भी जिम्मेदार थीं, लेकिन हस्ताक्षर होने के साथ ही पाकिस्तान की तरफ से इसके प्रावधानों के प्रति वैसी प्रतिबद्धता नहीं दिखाई गई थी, जैसी प्रतिबद्धता दिखाने की जरूरत थी। भारत ने अपनी ओर से भरपूर प्रतिबद्धता दिखाई, पर उसने पाकिस्तान पर समान प्रतिबद्धता दिखाये जाने को सुनिश्चित नहीं किया। यह इस समझौते का सबसे स्याह पहलू है जिसने पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों के जीवन को नारकीय बना दिया।

संदर्भ:

1. Ahmed, Ishtiaq (2018) "Jinnah: His Successes] Failures & Role in History", Penguin Random House India] New Delhi- p-17(ISBN No: 978&0670090525)
2. https://www.bbc.com/hindi/international-55576177 (हमीदा खूड़ो लिखती हैं कि, दंगे ख़त्म होने के बाद नौ या दस जनवरी को अय्यूब खूड़ो किसी काम के लिए प्रधानमंत्री लियाकत अली ख़ान के पास गए, तो उन्होंने कटाक्ष किया कि तुम कैसे मुसलमान हो. जब भारत में मुसलमानों का नरसंहार हो रहा है, तो आप यहां हिंदुओं को सुरक्षा उपलब्ध करा रहे हैं. क्या आपको शर्म नहीं आती? खूड़ो ने जवाब दिया कि बिना किसी भेदभाव के नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना उनकी ज़िम्मेदारी है)
3. श्रीप्रकाश, श्री (1966): "पाकिस्तान के प्रारम्भिक दिन", मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठा- 29
4. अहमद, आई (2021): "1947 में पंजाब का बंटवारा: एक त्रासदी हजार कहानियाँ", अनु गुरप्रीत सिंह, आकार बुक्स, दिल्ली, पृष्ठ:280
5. Dastidar, S. G. (2008). Empire's last casualty: Indian subcontinent's vanishing Hindu and other minorities. Kolkata: Firma KLM
6. Kamra, A. J. (2000). The prolonged partition and its pogroms: Testimonies on violence against Hindus in East Bengal 1946–64.
7. भारतीय विदेश मंत्रालय की वेबसाइट https://mea.gov.in/Portal/LegalTreatiesDoc/PA50B1228.pdf
8. Raghvan, P. (2020): "Animosity at Bay: An Alternative History of the India-Pakistan Relationship, 1947-1952, Harper Collins, London, P-12
9. मुखर्जी, एस (2013): "बांग्लादेश में हिंदुओं पर संगठित हिंसा", अनु. ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, भारतीय नीति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृष्ठ-37
10. श्यामा प्रसाद मुखर्जी रिसर्च फाउंडेशन द्वारा प्रकाशित जोगेन्द्रनाथ मण्डल का इस्तीफ़ा https://www.spmrf.org/wp-content/uploads/2020/01/J-N-Mandal-Resignation-Letter.pdf
11. बैंकिन, आर. एल. (2019): "ए क्वाइट केस ऑफ एथनिक क्लीनसिंग: द मर्डर ऑफ बांग्लादेश'स हिन्दू"(द्वितीय संस्करण, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ: 79-93
12. Muneer, Justice Md., (2018) "From Jinnah to Zia" (reproduced by sani h. panhwar), p-154
13. श्यामा प्रसाद मुखर्जी रिसर्च फाउंडेशन पर 2 जनवरी 2020 का आर्टिकल (https://www.spmrf.org/healing-deep-scars/
14. मस्करेंहस, एंथनी(1986): "बांग्लादेश: ए लीगेसी ऑफ ब्लड", हार्डर एंड स्ट्रॉटन, लंदन, पृष्ठ-172
15. http://www-pakistani-org/pakistan/constitution/amendments/2amendment-html ¼ikfdLrkuh lafo/kku dk nwljk la'kks/ku½
16. https://www.dawn.com/news/1149558/the-untold-story-of-pakistans-blasphemy-law (अराफ़ात मज़हर का 9 दिसंबर 2014 को पाकिस्तान ईशनिन्दा कानून पर डॉन में लिखा लेख)